भारतीय ज्ञान परंपरा और ज्ञान की संस्कृति

गिरीश्वर मिश्र*

विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय ज्ञान-सृजन के केंद्र होते हैं। यह सृजन समाज की संस्कृति के मध्य होता है और उस संस्कृति को समृद्ध भी करता है। दोनों के बीच पारस्परिक संबंध होता है। आज जब वर्तमान काल को 'ज्ञान-युग' के रूप में जाना जा रहा है, तब भारतीय ज्ञान परंपरा और ज्ञान की संस्कृति का प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय है। यह लेख इसी विषय को विस्तृत रूप में समझाने का प्रयास करता है। इस लेख में बताया गया है कि ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती है। भावप्रधान दृष्टि से कहें तो कहेंगे 'ज्ञायते इति ज्ञानम्' अर्थात जिसे जाना जाए, वह ज्ञान है। वह सूचनात्मक हो सकता है। यदि करणप्रधान दृष्टि से देखें तो कहेंगे 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्' यानी जिसके माध्यम से जाना जाए वह ज्ञान है। ज्ञान की कोटियाँ भी होती हैं उच्च या निम्न स्तर की सूचनाओं से महत्तर ज्ञान की ओर आगे बढ़ते हैं, मनुष्य की जीवन यात्रा ज्ञान के अंतर्गत ही संपन्न होती है। इस पृथ्वी पर ज्ञान सबसे पवित्र होता है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं इह विद्यते, गीता)। यह संयोग मात्र नहीं है कि भारत का प्राचीन ग्रंथ वेद है जिसका अर्थ ज्ञान होता है। विशाल वैदिक ज्ञान परंपरा में ज्ञान या विद्या के दो प्रकार प्राप्त होते हैं— परा (अध्यात्मपरक) और अपरा (अन्य, भौतिक)। यह भी कहा गया है कि लौकिक ज्ञान (अविद्या) से मृत्यु-संकटों को पार कर आत्मज्ञान से अमरत्व मिलता है— अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते (ईशावास्येपिनिषद्–1/14)। विद्या से परिष्कृत होने के लिए साधना आवश्यक है। महाभारत के उद्योग पर्व में इस साधना के मार्ग में पड़ने वाले व्यवधानों को व्यक्त करते हुए सूत्र रूप में तीन बातें कही गई हैं— गुरु शुश्रूशा न करना, पढ़ने में त्वरा या जल्दबाज़ी तथा अपनी प्रशंसा। ये विद्यार्जन के तीन शत्रु हैं (अशुश्रूशा त्वरा श्लाघा विद्याया: शत्रवस्त्रय:)।

ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्

अज्ञान के अंधकार में से विवेक द्वारा ज्ञान के प्रकाश का वरण करो। *(ऋग्वेद 3/39/7)*

वस्तुतः भारतीय समाज के मन में प्राचीन काल से ही विद्या और बुद्धि की अनेक छवियाँ अंकित हैं। उसका महत्व बताते हुए यह बात कही गई है कि विद्याविहीन पशु होता है और विद्या ही सबसे बड़ा धन है। ऐसे ही आलस्य, घर के प्रपंच, अनाभ्यास, समय की हानि, गलत विधि से सीखना, अनुचित रूप से पढ़ाई आदि विष की भाँति है (दुरधीता विषं विद्या)। विद्यार्थी को सुख की चिंता नहीं करनी चाहिए और विद्या अच्छे आचरण से सुशोभित होती है— विद्या धर्मेण शोभते। विद्या से विनय, विनय से पात्रता, पात्रता से धन और धन से सुख मिलता है। ऐसे ही बुद्धि को लेकर भी कई बातें कही गई हैं। बुद्धि से किए गए कर्म श्रेष्ठ होते हैं। ज्ञान बुद्धि से शुद्ध

* *पूर्व कुलपति,* महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) तथा *पूर्व प्रमुख* एवं *प्रोफ़ेसर*, मनोविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, टावर 1, फ्लैट नं. 307, पार्श्वनाथ मजेस्टिक फ्लोर्स, 18-ए, वैभव खंड, इंदिरापुरम, गाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश 201014

होती है। सब कुछ बुद्धि पर ही प्रतिष्ठित है और बुद्धि से ही महान लक्ष्य पाया जा सकता है। जिसके पास बुद्धि है उसके पास बल होता है। बुद्धिमान व्यक्ति एक पैर से चलता है और एक पैर से रुकता है अर्थात सोच-विचार कर चलता है— *चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान (हितोपदेश)*।

इस तरह हम पाते हैं कि ज्ञानार्जन का लक्ष्य इस देश की संस्कृति में प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित रहा है। ज्ञान की अभीप्सा सर्वांगीण ज्ञान पाने की रही है अर्थात ऐसा ज्ञान जो विज्ञानयुक्त हो और हर तरह के कष्टों से मुक्ति दिलाने वाला हो— *ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् (गीता* 9/1)। विद्या वही है जिससे मुक्ति मिले— *सा विद्या या विमुक्तये*। ज्ञान पाने की यह यात्रा तप द्वारा पूरी की जाती है। तप का अर्थ है शरीर, प्राण, इंद्रियों, और मन को अच्छी तरह वश में करना, उन पर नियंत्रण करना। तप वह साधन है जिससे अस्तित्व को निर्मल या दोषमुक्त किया जा सकता है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।
(*गीता* 6/17)

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कर्मों में, सोने और जागने में नियमित रहता है, उसका योग दुखनाशक होता है। शरीर के इन तपों के अतिरिक्त वाणी का भी तप होता है। वाणी को संयम में रखना और सत्य, प्रिय तथा आवश्यकतानुरूप यथायोग्य सम्मान करते हुए बोलना वाणी का तप है। संयमित वाणी के साथ मौनव्रत लाभकर होता है। ऐसे ही मन का तप मन को संयम में रखना है। हिंसायुक्त क्लिष्ट भावना रखना तथा अपवित्र विचार को दूर कर शुद्ध विचार मन में धारण करना मानसिक तप है। इस दृष्टि से सात्विक, राजसिक और तामसिक तप विशेष रूप से प्रासंगिक है (*गीता,* अध्याय 17/17–19)।

वस्तुतः श्रीमद्भगवदगीता संवाद गुरु-शिष्य के मध्य की अंतर्क्रिया का सम्यक मार्गदर्शन करने वाला अदभुत ग्रंथ है। वह विद्यार्जन का एक मौलिक प्रारूप उपस्थित करता है। पांडुपुत्र श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन को पता नहीं है कि कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि में वह क्या करें। वे कहते हैं, "मैं मूढ़ चित्त वाला हूँ! शिष्य हूँ! आपकी शरण में हूँ! मुझे उपदेश दें!"

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म
सम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेहं शाधि
मां त्वां प्रपन्नम्।। (*गीता* 2/7)

गुरु के रूप में कृष्ण से प्राप्त ज्ञान से अंत में उनका भ्रम दूर होता है और अज्ञान से ज्ञान तक की यात्रा संपन्न होती है। कृष्ण ने उत्तर दिया कि स्वधर्म द्वारा निर्धारित विहित कर्म अनासक्त भाव से करें। अर्जुन की यह यात्रा बड़ी मुश्किल थी। वह युद्ध भूमि में स्वजनों को सम्मुख देख दुखी और विषादग्रस्त हो गए थे। उसकी स्थिति कुछ इस तरह थी—

सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुशस्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।
(*गीता* 1/29)

मोह और भय से अर्जुन का धर्म और अधर्म का विवेक जाता रहा। श्रीकृष्ण अर्जुन की शंकाओं को दूर करते हैं, समझाते हैं और ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करते हैं। गीता के अनुसार गुरु के निकट प्रणिपात, गुरु से परिप्रश्न करते हुए और गुरु की सेवा करते हुए शिष्य गुरु से ज्ञान प्राप्त करता है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानम् ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।
(*गीता* 4/34)

ज्ञान पाने के लिए विद्यार्थी में श्रद्धा, तत्परता और इंद्रियों का नियंत्रण भी आवश्यक तत्व हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेंद्रियः।
ज्ञानम् लब्ध्वा परां शांतिमचिरेण अधिगच्छति।।
(*गीता* 4/39)

एक शिष्य के रूप में अर्जुन श्रीकृष्ण से निवेदन करते हुए बड़े मार्मिक शब्दों में कहते हैं, 'हे प्रभो, मैं शरीर को अच्छी तरह चरणों में रखकर और प्रणाम कर स्तुति करने योग्य आपको प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, और सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रिय स्त्री के वैसे ही आप भी मेरे अपराध को सहन करने योग्य हैं।'

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम् प्रसादये
तवमहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव
सोढुम।। (गीता 11/44)

श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न प्रकृति वालों के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग (यथा भक्ति योग, कर्म ज्ञान, राज योग) सुझाते हैं। तदानुसार ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, कर्म फल त्याग आदि का विस्तृत विधान किया गया है। उनका प्रमुख संदेश है कि स्वधर्म का पालन करना चाहिए जो मनुष्य के स्वभाव के अनुरूप कर्म में सन्नद्ध करता है, उससे संसिद्धि प्राप्त होती है। परमेश्वरार्पण की बुद्धि से कर्म करना श्रेष्ठ है। गुरु शक्ति का संचार करता है ताकि कार्य को निष्ठापूर्वक किया जाए। कर्म से अर्चना करके मनुष्य सिद्धि पाते हैं (*गीता*18/46)

ध्यातव्य है कि सभी मूल्यपरक बातें एक विचारप्रधान समाज में ही लागू हो सकती हैं। इसके लिए आवश्यक है कि समाज में ज्ञान को वरीयता दी जाए। भारतीय परंपरा का महत्व इस कारण से है कि उसमें ज्ञान को संपत्ति तथा शक्ति दोनों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। वैदिक ऋषियों की प्रार्थना है कि हमें विकसित करने वाला और हमें दबाकर न रखने वाला ज्ञान प्रवाह विश्व की समस्त दिशाओं से हमारी ओर आए— *आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः*। मनुष्य का जीवन केवल संपत्ति के उपार्जन अथवा उसके उपभोग के लिए नहीं है और न ही शक्ति का संधान करके, कमज़ोरों को पीड़ित करके अपनी अहंमन्यता सिद्ध करने के लिए है। शक्ति और संपत्ति दोनों जीवन को सरल करने के साधन हो सकते हैं, मानव के वास्तविक गंतव्य के उपकरण नहीं। निःस्वार्थ ज्ञान ही वह उपकरण है जिससे हम समाज में सुख-शांति लेकर आ सकते हैं। इसलिए भारतीय ज्ञान परंपरा में ज्ञान को सबसे बड़ा उपकरण माना गया है— *ज्ञानात् परतरं न हि*। ज्ञान की इसी अपूर्व उपासना के कारण भारत शताब्दियों से विश्व भर की ज्ञान परंपराओं का संश्लेषणात्मक केंद्र बना रहा है। उसका विश्वगुरु होना इस नाते भी है कि यहाँ पर समस्त विश्व के विद्यास्थानों का अध्ययन, अध्यापन और पोषण होता रहा है। यदि भारत का सभ्यताबोध और सांस्कृतिक परंपराएँ आज भी मौजूद हैं, तो उसका मुख्य कारण वह केंद्रीय आध्यात्मिक तत्व है, जिसमें इतनी क्षमता और ऊर्जा थी कि इतिहास के निर्मम थपेड़ों के बावजूद वह समस्त प्रभावों को अपने भीतर समाहित कर सका। अंग्रेज़ी मार्क्सवादी इतिहासकार ई.पी. थॉप्सन के

शब्दों में— "भारत सिर्फ़ महत्वपूर्ण ही नहीं, दुनिया का शायद सबसे महत्वपूर्ण देश है, जिस पर सारी दुनिया का भविष्य निर्भर करता है। भारतीय समाज में दुनिया के विभिन्न दिशाओं से आते प्रभाव एक-दूसरे के साथ मिलते हैं... पूर्व या पश्चिम का कोई ऐसा विचार नहीं, जो भारतीय मनीषा में क्रियाशील न हो" (वर्मा, 1991)।

भारत में ज्ञान की संस्कृति का उन्मेष गुरु के आश्रम में हुआ करता था जहाँ उपनयन के बाद विद्यार्थी ब्रह्मचारी के रूप में रहता था। गुरु उसे अपनी संतान की तरह रखता था। गुरु और शिष्य का संबंध बड़ा पवित्र था और गुरु अपने चरित्र, सीखने के प्रति लगन और समर्पण की भावना से विद्यार्थी में श्रेष्ठ गुणों का विकास करता था। श्रवण, मनन और ध्यान की प्रक्रियाओं द्वारा विद्यार्थी ज्ञान को आत्मसात करता था। प्राचीनकाल में छापेखाने नहीं थे और आरंभ में शायद लिपि भी नहीं रही होगी। सब कुछ स्मृति पर आधृत होता था। इसलिए सूत्र पद्धति से ज्ञान का संक्षिप्त रूप विकसित हुआ। बाद में लेखन के साथ भाष्य और टीकाएँ भी लिखी गईं। यहाँ पर यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि उपनिषद काल में भी अध्ययन विषय की परिधि बड़ी व्यापक थी। *छांदोज्ञोपनिषद* में एक प्रसंग है, जिसमें नारद ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऋषि सनत्कुमार के पास जाते हैं और पूछे जाने पर अपने द्वारा पढ़े गए विषयों की सूची बताते हैं— चार वेद, महाकाव्य, पुराण, व्याकरण, अंकगणित (राशि), देवविद्या, कालविज्ञान, वाकोवाक्यम, राजनीति, निरुक्त, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, रक्षाशास्त्र, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्प। वे कहते हैं , "यह सब तो मैंने पढ़ा है, मैं मंत्रविद् हूँ पर अभी भी मुझे आत्मज्ञान नहीं है, मैं आत्मविद् नहीं हूँ। मुझे उसका ज्ञान दें।" तब सनत्कुमार कहते हैं, "तुमने जो कुछ अब तक सीखा है वह सिर्फ़ शब्द मात्र है।" अर्थात शब्दज्ञान नाकाफ़ी है। आत्मज्ञान उत्तम और श्रेष्ठ है— *'सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानम् परं स्मृतम्'।* पर यह भी याद रखना चाहिए कि मोक्ष चार पुरुषार्थों में से एक था। शेष तीन थे— धर्म अर्थात कर्तव्य पालन, अर्थ यानी भौतिक समृद्धि की प्राप्ति और काम अर्थात धर्मानुकूल सुख प्राप्ति।

गुरुकुल में शिक्षा पाने के बाद समावर्तन संस्कार होता था और तब विद्यार्थी घर जाता था। तब वह स्नातक होता था— *स्नातक: स्नाति विद्यया*। जब स्नातक घर जाता था तो आचार्य उपदेश देता जैसा *तैत्तिरीय उपनिषद* में है और जिसका संक्षिप्त रूप आजकल दीक्षांत के अवसर पर प्रयुक्त होता है। वाद और शास्त्रार्थ के द्वारा ज्ञान का विकास होता था। गुरुकुल के अतिरिक्त परिषद तथा योग-क्षेत्र, जैसे— नैमिषारण्य और ब्रह्मावर्त भी विद्याकेंद्र थे जहाँ पर ज्ञान मिलता था। उस समय कुलपति वह होता था जो दस हज़ार विद्यार्थियों की शिक्षा, आवास और भोजन की व्यवस्था करता था।

मुनीनां दश साहस्त्रं योन्नपानादि पोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपति: स्मृत:।।

वशिष्ठ, भारद्वाज, अगस्त्य जैसे ऋषि कुलपति थे। महाभारत काल में कण्व, सांदीपनि और शौनक आदि ऋषि भी कुलपति थे। व्यास भी इसी क्रम में आने चाहिए। विभिन्न शास्त्रों की प्रचुर सामग्री ज्ञान की समृद्ध संस्कृति का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

बौद्ध काल में विहार और अग्रहार थे जिनके साथ आराम भी जुड़े होते थे। बौद्ध ग्रंथों में यष्टीवन, वेणुवन, जेतवन, महावन, निग्रोधाराम और सारिपुत्त,

महा मोग्गलायन और आनंद जैसे कुलपतियों का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला, काशी, नालंदा, विक्रमशिला, नवद्वीप, शारदापीठ, वल्लभी आदि प्रमुख विद्याकेंद्र थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने नालंदा का वर्णन किया है। बाणभट्ट की *कादम्बरी* में भी विद्यार्जन का विस्तृत वर्णन मिलता है। मुस्लिम काल में मदरसे खुले। फिर पुर्तगाली, ईसाई मिशनरी, डच, अंग्रेज़, डेनिश, फ्रेंच आए और उन्होंने अपने ढंग की शिक्षा शुरू की। अंग्रेज़ों ने कलकत्ता मदरसा 1780 में, बनारस संस्कृत कॉलेज 1791 में, फ़ोर्ट विलियम कॉलेज 1800 में और कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय 1857 में शुरू किए। स्वतंत्र भारत में क्रमश: शिक्षा संस्थाओं की संख्या बढ़ती गई परंतु गुणवत्ता की दृष्टि से स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं आ सका। संरचनात्मक दृष्टि से औपनिवेशिक ढाँचा ही थोड़े बहुत परिमार्जन के साथ चलता रहा। शिक्षा के आयोग बने और उनके प्रतिवेदन भी आए परंतु आवश्यक कार्रवाई करने में हम चूकते रहे। पश्चिम ही ज्ञान का संदर्भ बना रहा और वहाँ की ज्ञानोपलब्धि निष्कर्ष के रूप में प्रयुक्त होती रही। संभवत: पहली बार 2020 में पूरी शिक्षा व्यवस्था का भारतीय खाका तैयार हो सका।

भारत की परंपरा को यदि एक समेकित नाम दिया जा सकता है तो वह है ज्ञान की परंपरा युगों-युगों में आंतरिक तथा बाह्य स्तरों पर होने वाले सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद भारतीयों ने अपनी ज्ञान प्रधान संस्कृति को जीवंत तथा उद्दीप्त रखा। ज्ञान की परंपरा ने भी अपने आप को हर युग के अनुकूल बनाने के लिए निरंतर अद्यतन की प्रक्रिया को अपनाया। इस अद्यतनीकरण के लिए उसके पास अनेक रोचक प्रविधियाँ रहीं। कभी उसने अपना विस्तार कर आगंतुक कल्याणकारी तत्वों को स्थान दिया तो कई बार अपना संक्षेपण करके हानिकर तत्वों को दूर भी किया। कई बार पुरानी चीज़ों को केवल पुनः परिभाषित करके उसे समयानुकूल बनाया तो कभी-कभी रूढ़ियों में बदलते अनुत्पादक प्रचलनों को छोड़कर उनसे मुक्ति भी पाई। इस तरह भारतीय ज्ञान परंपरा स्थिर न होकर गतिशील है, जो अपने स्वरूपगत समृद्धि की सुरक्षा करते हुए समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलती है।

अमृत-महोत्सव के संदर्भ, गुलामी की मानसिकता से मुक्त होने के लिए आह्वान, यह स्मरण दिलाता है कि देश की आज़ादी अधूरी है। हम आज भी मानसिक रूप से पूरी तरह से स्वाधीन नहीं हो सके हैं। पराधीनता के बंधन में दास, स्वामी की दृष्टि से स्वयं को और अपनी दुनिया को देखने का भी अभ्यस्त हो जाता है। अभ्यास में आने के बाद जब हम उसके आदी हो जाते हैं तो हमारी भावना, विचार और कर्म सभी उससे अनुबंधित हो जाते हैं। उसकी तीव्रता का अहसास भी खत्म होने लगता है और तब दासता, दासता नहीं रह जाती। गुलाम अपने आका की खुशी में ही अपनी भी खुशी देखता है। गुलामी की सोच या मनोवृत्ति संकुचित या प्रतिबंधित दृष्टि के साथ बंधी-बंधाई लीक पर ले जाती है। अनुगमन और अनुकरण करते रहना अपनी नियति मानकर इस तरह की सोच सर्जनात्मकता से भी विमुख करने लगती है। इस हाल में आदमी के ऊपर संशय, अनिश्चय और हीनता की ग्रंथि हावी होने लगती है।

भारत का स्वतंत्रता संग्राम अंग्रेज़ी हुकूमत की जिस गुलामी के विरुद्ध लड़ा गया था उससे देश

को राजनैतिक स्वाधीनता 1947 में मिली। पराधीन भारत में महात्मा गांधी ने 1909 में *हिन्द स्वराज* में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा था कि सिर्फ़ अंग्रेज़ों और उनके राज्य को हटाने भर से स्वराज की प्राप्ति संभव नहीं है। उनके जाने पर भी उन्हीं की सभ्यता और उन्हीं के आदर्श यदि बने रहें, तो व्यावहारिक रूप से हम पहले जैसे ही बने रहेंगे। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने पश्चिम की सभ्यता को 'शैतानी सभ्यता' घोषित किया और अपनी शंकाएँ व्यक्त की थीं। महात्मा गांधी में गुलामी का प्रतिरोध और अस्वीकार के साथ भारत की आत्मा की पहचान भी थी और उस चेतना को जगाने के लिए उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की प्रखर आलोचना की। स्वराज के इस संकल्प-पत्र का प्रतिफलन भारत में 1915 में आने के बाद के उनके निजी जीवन और सार्वजनिक उद्यम में देखा जा सकता है। पराधीन भारत में अपने आचरण और व्यवहार में महात्मा गांधी ने स्वराज की संभावना की मूर्त छवियाँ भी प्रस्तुत कीं। उनके आश्रम और आंदोलन इसकी सामाजिक प्रयोगशाला बने। इस दृष्टि से महात्मा गांधी का रचनात्मक कार्यक्रम सामाजिक क्रांति का आगाज़ था जिसमें हिंसक आधुनिक सभ्यता के चंगुल से छूटना मुख्य ध्येय था। उन्होंने पूर्ण स्वराज्य पाने के कार्यक्रम में राजनीतिक पहल और सामाजिक रचनात्मक कार्यक्रम दोनों की भूमिका को रेखांकित किया। वे सविनय अवज्ञा या सत्याग्रह को रचनात्मक कार्यक्रम का सहायक मानते हैं और देश की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने वाला कहते हैं। इस तरह उन्होंने औपनिवेशिकता का विकल्प सामाजिक परिवर्तन के रूप में प्रस्तुत किया था। सिर्फ़ अंग्रेज़ी सत्ता की समाप्ति नहीं, बल्कि सर्वोदय उनका उद्देश्य था। वे एक जीते-जागते निरामय समाज का निर्माण चाहते थे। स्वतंत्र भारत की कथा में बहुत सारे उतार-चढ़ाव आए और संपूर्ण स्वराज का सपना आज भी अधूरा है। आज भ्रष्टाचार, पाखंड और नैतिक मूल्यों के ह्रास से देश जूझ रहा है। सार्वजनिक जीवन में मर्यादाएँ टूट रही हैं और प्रवचन तथा नाटक के दौर चल रहे हैं।

इन सब स्थितियों पर गौर करें तो प्रकट होता है कि आधुनिकता का लबादा ओढ़कर औपनिवेशिकता हावी रही और एक सभ्यता के रूप में हम उसका समाधान नहीं कर सके। औपनिवेशिक दौर में आर्थिक असमानता खूब बढ़ी थी और बाद में ऐसी संस्थाएँ खड़ी की गईं जो उनका प्रभुत्व बनाए रखें। उपनिवेशवाद मूलत: शोषण, दमन और हिंसा से बनता है। तीव्र वैश्वीकरण के युग में भी आज देश के आत्मबोध को सशक्त बनाने के लिए पश्चिम के औपनिवेशिक विचार के खाँचों से बाहर निकलकर देखना होगा। परंतु गुलामी की मानसिकता से मुक्ति पश्चिमी दृष्टि से ही मुक्ति नहीं है। जैसा कि सर्वविदित है बर्तानवी साम्राज्य ने आधिपत्य जमाकर आर्थिक शोषण तो किया ही, सांस्कृतिक व्यवस्था को भी समूल नष्ट करने की भरपूर कोशिश की। दुर्भाग्य से स्वतंत्र भारत में भी भारतीय सभ्यता का ज्ञान की दृष्टि से योगदान पश्चिमाभिमुख बुद्धिजीवी वर्ग ने पहचाना ही नहीं। भारत की आत्मा तो बंधन में ही रही। इसकी अपनी सामग्री और सैद्धांतिकी की लगातार उपेक्षा होती रही। साहित्य और संस्कृति का आधार भाषा होती है और देश की भाषाओं की उपेक्षा की जाती रही। भाषा सिर्फ़ संचार का माध्यम ही नहीं, बल्कि संस्कृति की वाहिका भी होती है।

भाषा में सांस्कृतिक मूल्य और आदर्श रचे-बसे होते हैं। आरोपित भाषा हमें अपने विचार, मूल्य और कल्पना से विलग करती है। तब हम अपने से बाहर निकलकर खुद (स्व) को देखने और पहचानने का काम करते हैं मानो कि वह कोई (अन्य) दूसरा है। कल्पना का यह आइना यूरोप, उसकी संस्कृति को केंद्र मानकर सारी दुनिया उसी की दृष्टि से देखता है। जब देश को आज़ादी मिली तो हम राजनीतिक दृष्टि से 'स्वतंत्र' तो हुए पर अंग्रेज़ी, यूरोपीय ज्ञान, शासन-संरचना और उसकी परंपरा से मुक्ति नहीं मिली। पश्चिम के मानस कारागृह से बाहर निकलना न हो सका। सभ्यता के आलोक में वर्तमान के साथ संवाद नहीं हुआ।

यहाँ की धरती पर उपजे और पनपे विचारों में लोक, जन और सर्व जैसे विचार बड़े पुराने प्रतीत होते हैं। यहाँ पर यह विचार अधिक प्रचलित है कि अकेला अधूरा होता है। यहाँ जुड़ने की छटपटाहट और बेचैनी स्वाभाविक रूप से दिखती है। वैयक्तिकता कृत्रिम और अस्वाभाविक है। व्यक्ति के लिए उसकी अपनी सत्ता का अतिक्रमण करना ही विकास का उद्देश्य होता है। अहं के स्वच्छंद विस्तार की जगह उसका नियंत्रण व्यक्ति के विकास का एजेंडा होना चाहिए। अगर वेदांत अहं ब्रह्मास्मि का उद्घोष करता है तो वहाँ भी अपने विस्तार की बात है ताकि व्यक्ति का स्व सर्वसमावेशी हो जाए। सबको साथ लेकर चलने वाला स्व ही मुक्त होता है। बंधनों से मुक्त होने पर ही अपने स्वरूप का पता चलता है। भारत की मानसिक गुलामी से उबरने के लिए उसे अपने स्वरूप और अस्मिता को अपनी दृष्टि से पुन: पहचानना होगा। शिक्षा-दीक्षा भविष्य के समाज के निर्माण की आधारशिला होती है और भविष्य को रचने का विकल्प मुहैया कराती है। अधिकांश माता-पिता अभी भी यही मानते हैं कि अच्छे आचरण वाले, विचारशील और सुलझे शिक्षक अपने आचरण, विचार और मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पण द्वारा एक सार्थक सामाजिक परिवेश की रचना करते हैं जो विद्यार्थियों को सदगुणों के विकास और सही राह की ओर ले जा सकते हैं। वस्तुत: विद्या केंद्र घर और समाज के बीच सेतु होते हैं। ये ऐसे जीवन स्थल हैं जहाँ सही रास्ते की समझ, रिश्तों की गहराई और उसकी पवित्रता की अनुभूति संभव है। विश्वविद्यालय के परिसर से ही प्रकाश और विवेक का उदय हो सकता है।

औपचारिक शिक्षा के इन केंद्रों में कला, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और साहित्य किसी भी क्षेत्र में पढ़ते हुए विद्यार्थी अधिकाधिक सूचना का संग्रह कर पाता है। इस तरह की सूचना का अकादमिक, दार्शनिक और व्यावसायिक जगत में बड़ा सम्मान होता है। परंतु शिक्षक सिर्फ़ पाठ्यक्रम में दिया एक विषय ही नहीं पढ़ाता है। वह सीखने की पूरी प्रक्रिया को समझाता है और पूर्ण मनुष्य रचने में सहायक होता है। वह सदगुणों के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। अच्छे शिक्षक विद्यार्थियों को प्रश्न और विवेचन का अवसर देते हुए उनकी जिज्ञासा को पुष्ट करते हुए एक समग्र बोध और सीखने की प्रक्रिया को आत्मसात कराते हैं। ऐसे में ही एक संभावना से भरा व्यक्तित्व पल्लवित और पुष्पित होता है। हम देखते हैं कि एक पौधा भी पनपने के लिए स्वतंत्रता चाहता है और उसे धूप, हवा, पानी और खाद आदि का समुचित मात्रा में पोषण मिलना चाहिए। ऐसे

ही मन और शरीर सबका प्रस्फुटित होना ही शिक्षा का अभिप्राय होना चाहिए। इसके लिए सीखने की स्वतंत्रता और आवश्यक समर्थन मिलना चाहिए। मनुष्य के मन, शरीर और बुद्धि के बीच सामंजस्य हो तभी उसके समग्र विकास में स्वभावत: उत्कृष्टता आ सकेगी। अभय की स्थिति में ही स्वतंत्र विचार की शक्ति आती है। उसी के साथ मानव में अच्छाई का विकास होता है। अहंकाररहित, विनयसंपन्न, दूसरों का ध्यान रखने वाला व्यवहार मन के भीतर से आता है। शिक्षक और विद्यार्थी के बीच भी मानवीय रिश्ता होता है। यदि अध्यापक को उच्च पद पर आसीन होने और ज्ञानी होने का अभिमान रहता है तो उसका विद्यार्थियों के साथ भरोसे और आश्वस्ति का रिश्ता नहीं बन सकता। उल्टे भय पैदा होता है और दबाव और तनाव की स्थिति में स्वाभाविक सीखना नहीं हो पाता है। तब विद्यार्थी के मन में गाँठ बन जाती है और वे आगे के जीवन में या तो आक्रामक या फिर अनुगामी बना रहता है।

सही रिश्ते हों तो बुद्धि का जागरण होता है और आत्मविश्वास बढ़ता है। निर्भय और सचेत होकर सीखने पर व्यवहार, कार्य और संबंध में उत्कृष्टता या कुशलता आ सकेगी। ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, बोध और विवेक का जागरण भी आवश्यक है। नई पीढ़ी और नई सामाजिक संरचना का उदय विद्या-केंद्रों के गर्भ से ही हो सकता है। लोभ, ईर्ष्या और शक्ति के ऊपर टिकी सभ्यता का हश्र हम देख रहे हैं। अस्त्र-शस्त्र का जखीरा बढ़ रहा है। व्यापारीकरण की अतिव्याप्ति से नैतिक पतन हो रहा है। अपनी संतुष्टि और स्वार्थ के लिए हम धरती का अंधा-धुंध दोहन कर रहे हैं। जीवन के इस ढर्रे को बदलने में शिक्षा ही कारगर हो सकती है। विद्यार्थी में दायित्व का भाव पैदा करना, मनुष्य और उसके दैनिक जीवन को संस्कारित करना शिक्षक का दायित्व है। इसकी वास्तविकता को महसूस कराना और सात्विकता और सदगुण का विकास शिक्षक के लिए प्रमुख सरोकार होने चाहिए। इसके लिए अध्यापक को आर्थिक और मानसिक सुरक्षा मिलनी चाहिए।

भारत सरकार द्वारा देशभर में देशभक्ति की भावना जागृत करने एवं आज़ादी के लिए विविध रूप में योगदान देने वाले वीर नायक-नायिकाओं के सम्मान तथा उनके योगदान को आने वाली पीढ़ियों की स्मृति में सहजने के लिए आज़ादी का अमृत महोत्सव 12 मार्च, 2021 से प्रारंभ कर 15 अगस्त, 2023 तक चलाया गया। अब अगले 25 वर्ष अर्थात 2047 तक के 'अमृत काल' की अवधि में एक नए भारत (न्यू इंडिया) के स्वप्न को साकार करने के लिए सुशिक्षित समाज के निर्माण की आवश्यकता है। यह इसलिए और भी ज़रूरी हो जाता है क्योंकि अनुमान है कि इस बीच भारत की आधी जनसंख्या 30 वर्ष की आयु के नीचे वाली होने जा रही है। सक्रियता, उत्साह और उत्पादकता की दृष्टि से यह आयु वर्ग निश्चय ही अत्यधिक महत्व का होता है। इस तरह अमृत-काल एक निर्णायक दौर होने जा रहा है जिसे अवसर में बदलने के लिए शिक्षा का भी प्रासंगिक होना आवश्यक है। ज्ञान और कौशल दोनों ही दृष्टियों से अच्छी शिक्षा व्यवस्था के लिए वरीयतापूर्वक काम करने की ज़रूरत है। सकारात्मक भविष्य की परिकल्पना को केंद्र में रखकर राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 राज्य की जन कल्याणकारी योजना के रूप में प्रस्तुत की गई है, जो भारत की

युवा जनसंख्या के सुखद भविष्य को चित्रित करती है। इस शिक्षा नीति में पूर्व प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक अनेक नवाचार सुझाए गए हैं। उन्हें सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से लागू कर बेहतर शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराने की बात भी की गई है। पर इन सबके लिए सघन सुधार, आर्थिक निवेश और शिक्षा को स्वायत्तता देने की दरकार है।

आज औद्योगिकीकरण और नगरीकरण ने शिक्षा के दृश्य को बहुत हद तक बदल डाला है और शिक्षक भी इसके दायरे में आ गया है। बाज़ार और पूँजी के प्रभुत्व ने शिक्षा के दरवाज़े पर ज़बर्दस्त दस्तक दी है। समाज की वरीयताएँ ही बदल गई हैं। मुक्ति को छोड़ अब शिक्षा को अर्थ की खोज और प्राप्ति से जोड़ दिया गया है। शिक्षा वित्त के अधीन कर दी गई है। उसे नौकरी और उद्योग धंधे से जोड़ दिया गया। यहाँ तक की अब यह नारा दिया जा रहा है कि सब कुछ भूल जाओ और उद्योग की दुनिया से पूछ-पूछ कर ही ज्ञान-विज्ञान को आयोजित करो। वर्तमान में प्रौद्योगिकी के प्रवेश से शिक्षा की दुनिया में एक नया ही दौर शुरू हुआ। इसे युग-परिवर्तन ही कहेंगे, जिसके साथ शिक्षा के सम्पूर्ण आयामों मे परिवर्तन बदस्तूर ज़ारी है। दूर-दराज़ के इलाकों से जहाँ बिजली और आधुनिक तकनीकी की पहुँच नहीं है या कम है उनको छोड़ दें तो हमारी दुनिया बदल चुकी है। मीडिया के तीव्र प्रसार ने घर बैठे सारे विश्व से सीधा संपर्क साधना संभव कर दिया है और वह भी सतत या अटूट। सब कुछ अकल्पनीय ढंग से बदल रहा है। आज के जीवन में ई-माध्यम की ज़ोरदार उपस्थिति हमारे मन-मस्तिष्क की आदतों को बदल रही है। मोबाइल, आई पैड और आई पॉड, कंप्यूटर जैसे ई-उपकरण हमारे अपने हाथ-पाँव और आँख-कान जैसे अंग की तरह के होते जा रहे हैं। शिक्षक को अपनी भूमिका पुनः परिभाषित करनी होगी और नए कौशलों से खुद को दक्ष करना होगा।

आज के इंटरनेटप्रिय विद्यार्थियों की स्वयं शिक्षा के प्रति बढ़ती प्रवृत्ति और कई विषयों पर मल्टीमीडिया की प्रचुर सामग्री का उपलब्ध होना सीखने के पूरे परिवेश को ही बदल रहा है। ई-माध्यमों पर व्याख्यान और शैक्षिक सामग्री की सशक्त प्रस्तुतियाँ बड़ी लोकप्रिय हो रही हैं। यही नहीं इन सब में भागीदारी और मिल-जुल कर सीखने समझने की संभावना भी बन रही है। इसका एक सुखद पक्ष यह भी है कि छात्र इनके साथ अपनी रुचि और गति के साथ ज्ञान और कौशल अर्जित करने का सुविधाजनक अवसर पा रहे हैं। इस परिवर्तन को गंभीरता से लेने की आवश्यकता है। तभी हम स्वाधीन और ज्ञानसंपन्न नागरिक बनाने में सफल हो सकेंगे। दरअसल अभी तक चल रही औपचारिक शिक्षा उन्नीसवीं सदी के औद्योगिक मॉडल पर आयोजित मास स्कूलिंग की भ्रामक वैचारिक आधारशिला पर टिकी थी। यह माना गया कि सभी बच्चे मूलत: खाली स्लेट की तरह जीवन शुरू करते हैं तथा उन्हें जबरन सिखाया जा सकता है। यह सोच मानव स्वभाव की वास्तविकता से बहुत दूर थी। पर इसे ध्यान में रखकर फैक्टरी जैसी स्कूली व्यवस्था व्यवहार में लाई गई। यह व्यवस्था अक्षम, अलगाववादी, मानकीकृत और बहुत हद तक अनुत्पादी साबित हुई है। शिक्षा के परिसरों को भयमुक्त और सकारात्मक बनाने के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करना और शिक्षा की प्रक्रिया को रुचिकर और आकर्षक बनाना आवश्यक है। मनुष्य

यदि तकनीकी कौशलों वाले उपकरण के रूप में ही ढाला जाए तो यह मानवता के लिए खतरनाक होगा। चरित्र, मूल्य और पारस्परिक सद्भाव को समझने-बूझने की भी ज़रूरत है। सिर्फ़ आर्थिक प्रगति ही पर्याप्त नहीं है। हम मात्र अर्थ-पशु न बनें बल्कि सच्चरित्र मनुष्य बनें, इसके लिए भी शिक्षा में जगह बनानी होगी। हम दिन-प्रतिदिन सामाजिक मूल्य की दृष्टि से व्यापक गिरावट के साक्षी हो रहे हैं और इससे समाज की समरसता घट रही है और सामाजिक स्वास्थ्य दुर्बल हो रहा है। हमें यह व्यवस्था करनी होगी कि हमारी शिक्षा पूर्णतर मनुष्य, सर्जनशील प्रतिभा और अच्छे सामाजिक व्यक्तित्व के निर्माण की राह पर ले जाए। इसके लिए शिक्षा में सार्थक गुणात्मक परिवर्तन की आवश्यकता है।

ज्ञान की पहुँच और उपयोगिता को बढ़ाना एक कठिन काम है इसके बावजूद भी ज्ञान, विश्वविद्यालयों और समाज में हो रहे परिवर्तनों को सामाजिक संरचना में हो रहे परिवर्तनों के प्रतिबिंब के रूप में देखा जा सकता है। वैश्वीकरण ने ज्ञान की एक नई राजनैतिक अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त किया है जिसके भीतर शैक्षिक संस्थान अपनी जगह और पहचान को काफ़ी हद तक बदल रहे हैं। इसके फलस्वरूप उच्च शिक्षा के दायरे में, विश्वविद्यालयों पर शिक्षा के संचालन के तरीके को बदलने के लिए लगातार दबाव पड़ रहा है। कुछ विचारकों के मत में यह दबाव उद्योग-प्रेरित है। कार्ल मार्क्स ने आर्थिक संरचना को पूँजीवादी सामाजिक संरचना के मूल आधार के रूप में पहचाना था आज ज्ञान और सूचना संसाधन (information processing) पर अर्थव्यवस्था और समाज की बढ़ती निर्भरता ने आर्थिक क्षेत्र की पहुँच को व्यापक बना दिया है, परिणामस्वरूप एक महत्वपूर्ण संस्थागत परिवर्तन की आवश्यकता है। अब विश्वविद्यालयों को तेज़ी से ज्ञान उत्पादन, संरक्षण और संचार की अपनी पारंपरिक भूमिकाओं के अलावा, सामाजिक-आर्थिक विकास और क्षेत्रीय नवाचार के दायित्व को अपनाने में सक्षम संस्था के रूप में देखा जा रहा है। यह महत्वाकांक्षी जनादेश उस बढ़ती जागरुकता से आता है कि उत्पादकता और वैश्विक प्रतिस्पर्धा निरंतर उत्पादन, संगठन तथा नए और परिष्कृत ज्ञान दोनों के सृजन पर आधारित है। हालाँकि इस बात पर सहमति नहीं बन सकी है कि किस हद तक अर्थव्यवस्था के चालक के रूप में ज्ञान का उदय विश्वविद्यालयों तथा व्यापक समाज में सांस्कृतिक और संस्थागत बदलावों को प्रोत्साहित करने में प्रयुक्त हो सकता है। ज्ञान की प्रकृति के बारे में रचनावादी बहस ने वैज्ञानिक ज्ञान के उत्पादन में सांस्कृतिक और सामाजिक तत्वों की भागीदारी को रेखांकित किया है। उत्तर-औद्योगिक ज्ञान-समाजों के संदर्भ में, अनुसंधान, ज्ञान और प्रौद्योगिकी का उत्पादन, हस्तांतरण और उपयोग परस्पर संबंधित प्रक्रियाएँ हो चली हैं। विश्वविद्यालयों की भूमिकाओं और कार्यों में निहित कुछ आदर्शों और विरोधाभासों पर चर्चा, वैज्ञानिकों पर अकादमिक शोध के औद्योगिक वित्तपोषण के प्रभाव की भी पड़ताल होनी चाहिए। उल्लेखनीय है कि विश्वविद्यालय के कुछ अंतर्निहित आदर्श और मानदंड होते हैं जिनकी रक्षा की जानी चाहिए।

शैक्षिक विकास सर्वांगीण विकास का माध्यम बनाना चाहिए। पूर्ण मनुष्य यानी समग्रता का

आशय विचारवान और विवेकवान होना है। वेद के व्याख्याता यास्क मनुष्य होने का लक्षण बताते हुए निरुक्त में कहते हैं—

मत्वा कर्माणि सीव्यती, मनुष्यमानेन सृष्टा:
मनस्यति: पुनर्मनस्वी भावे। मनोरपत्यं वा।

अर्थात जो विचार कर कर्म करे, वह मनुष्य है। कर्म करने के पहले जो भलीभाँति विचार करे कि मेरे इस कर्म का क्या फल होगा? किस-किस पर इसका प्रभाव पड़ेगा? मेरे इस कर्म से किसका भला और किसका बुरा होगा? साथ ही यह भी सोचना चाहिए कि बुरे कर्म का फल बुरा होगा और अच्छे कर्म का फल अच्छा होगा। *ऋग्वेद* में कहा गया—

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्
(ऋग्वेद,10/53/6)

मननशील हो! मनुष्य तू सच्चे अर्थों में मानव बन! तेरा लक्ष्य आत्मविकास ही न हो बल्कि अपने जीवन द्वारा दिव्यता एवं मानवता का विकास हो। अपने आदर्शों के लिए उत्सर्ग के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। मानव को धर्ममय मार्गों का आलम्बन करते हुए मननशील होकर उत्तम गुणयुक्त मनुष्य के निर्माण में यत्न करते रहना चाहिए। ज्ञान की संस्कृति इसी लक्ष्य के प्रति समर्पित है।

संदर्भ

ईशावस्योपनिषद. पृ. 36 https://ia801502.us.archiv.org/18/item/woks_of_Sankracharya_with_hindi_translation/isavasyopanishad%20Sankara%20Bhashya%20with%20Hindi_Translation%20-%20Gita%20Press%201940.pdf से प्राप्त किया गया

ऋग्वेद https://sanskritdocuments.org/doc_veda/r03.html से प्राप्त किया गया

छंदोज्ञोपनिषद, 2013 गीताप्रेस, गोरखपुर https://dn790004.ca.archive.org/0/items/Works_of Sankaracharya_with_Hindi_Translation/Chandogyopanishad%20Sankara%20Bhashya%20with%20Hindi%20Translation%20G1 ta%20Press%201956.pdf से प्राप्त किया गया

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020,* भारत सरकार, नई दिल्ली.

वर्मा, निर्मल. 1991. *भारत और यूरोप.* प्रतिश्रुति के क्षेत्र. वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

हितोपदेशः भाषांतरकार पं. रामेश्वर भट्ट, सं. श्री नारायण राम आचार्य 'काव्यतीर्थ' चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली https://ia600101.us.archive.org/9/items/hitopdesha_hindi/hitopdesha_hindi.pdf से प्राप्त किया गया

स्वामी रामसुखदास, *श्रीमद् भगवतगीता*, गीताप्रेस, गोरखपुर https://ia902205.us.archive.org/3/items/shreemed-bhagwat-gita-20220406_20220406_0356/%E0%A4%B6%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A5%80% E0%A4%AE%E0%A4%A6%E0%A5%8D%E0%A4%AD%E0%A4%97%E0%A4%B5%E0%A4%A4%E0%A4%97%E0%A5%80%E0%A4%A4%E0%A4%BE.pdf से प्राप्त किया गया